निग्रहस्थान

भारतीय तर्क साहित्य में निग्रहस्थान की प्राचीन विचारधारा ब्राह्मण परम्परा की ही है, जो न्याय तथा वैद्यक के ग्रन्थों में देखी जाती है। न्याय परम्परा में अक्षपाद ने जो संक्षेप में विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति रूप से द्विविध निग्रह स्थान को बतलाया और विस्तार से उसके बाईस भेद बतलाए वही वर्णन आजतक के सैकड़ों वर्षों में अनेक प्रकाण्ड नैयायिकों के होनेपर भी निर्विवाद रूप से स्वीकृत रहा है। चरक का निग्रहस्थानवर्णन अक्षरशः तो अक्षपाद के वर्णन जैसा नहीं है फिर भी उन दोनों के वर्णन की भित्ति एक ही है। बौद्ध परम्परा का निग्रहस्थानवर्णन दो प्रकार का है। एक ब्राह्मणपरम्परानुसारी और दूसरा स्वतन्त्र। पहिला वर्णन प्राचीन बौद्ध[1] तर्कग्रन्थों में है, जो लक्षण, संख्या, उदाहरण आदि अनेक बातों में बहुधा अक्षपाद के और कभी कभी चरक (पृ० २६६) के वर्णन से मिलता[2] है। ब्राह्मण परम्परा का विरोधी स्वतंत्र निग्रहस्थाननिरूपण बौद्ध परम्परा में सबसे पहिले किसने शुरू किया यह अभी निश्चित नहीं। तथापि इतना तो निश्चित ही है कि इस समय ऐसे स्वतन्त्र निरूपणवाला पूर्ण और अति महत्त्व का जो 'वादन्याय' ग्रन्थ हमारे सामने मौजूद है वह धर्मकीर्ति का होने से इस स्वतन्त्र निरूपण का श्रेय धर्मकीर्ति को अवश्य है। सम्भव है इसका कुछ बीजारोपण तार्किकप्रवर दिङ्नाग ने भी किया हो। जैन परम्परा में निग्रहस्थान के निरूपण का प्रारम्भ करनेवाले शायद पात्रकेसरी स्वामी हों। पर उनका कोई ग्रन्थ अभी लभ्य नहीं। अतएव मौजूदा साहित्य के आधार से तो भट्टारक अकलङ्क को ही इसका प्रारम्भक कहना होगा। पिछले सभी जैन तार्किकों ने अपने-अपने निग्रहस्थाननिरूपण में भट्टारक अकलङ्क के ही वचन[3] को उद्धृत किया है, जो हमारी उक्त सम्भावना का समर्थक है।

---

१ तर्कशास्त्र पृ० ३३। उपायहृदय पृ० १८।

२ Pre. Dignag Buddhist Logic P. XXII.

३ 'आस्तां तावदलाभादिरयमेव हि निग्रहः। न्यायेन विजिगीषूणां स्वाभिप्रायनिवर्त्तनम्।'—न्यायवि० २. २१३। 'कथं तर्हि वादपरिसमाप्तिः? निराकृतावस्थापितविपक्षस्वपक्षयोरेव जयेतरव्यवस्था नान्यथा। तदुक्तम्—स्वपक्षसिद्धिरेकस्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहिले तो बौद्ध परम्परा ने न्याय परम्परा के ही निग्रहस्थानों को अपनाया। इसलिए उसके सामने कोई ऐसी निग्रहस्थानविषयक दूसरी विरोधी परम्परा न थी जिसका बौद्ध तार्किक खण्डन करते पर एक या दूसरे कारण से जब बौद्ध तार्किकों ने निग्रहस्थान का स्वतन्त्र निरूपण शुरू किया तब उनके सामने न्याय परम्परा वाले निग्रहस्थानों के खण्डन का प्रश्न स्वयं ही आ खड़ा हुआ। उन्होंने इस प्रश्न को बड़े विस्तार व बड़ी सूक्ष्मता से सुलझाया। धर्मकीर्ति ने वादन्याय नामक एक सारा ग्रन्थ इस विषय पर लिख डाला जिस पर शान्तरक्षित ने स्फुट व्याख्या भी लिखी। वादन्याय में धर्मकीर्ति ने निग्रहस्थान का लक्षण एक कारिका में स्वतन्त्र भाव से बाँधकर उस पर विस्तृत चर्चा की और अक्षपादसम्मत एवं वात्स्यायन तथा उद्योतकर के द्वारा व्याख्यात निग्रहस्थानों के लक्षणों का एक-एक शब्द लेकर विस्तार से खण्डन किया। इस धर्मकीर्ति की कृति से निग्रहस्थान की निरूपणपरम्परा स्पष्टतया विरोधी दो प्रवाहों में बँट गई। क़रीब-क़रीब धर्मकीर्त्ति के समय में या कुछ ही आगे पीछे जैन तार्किकों के सामने भी निग्रहस्थान के निरूपण का प्रश्न आया। किसी भी जैन तार्किक ने ब्राह्मण परम्परा के निग्रहस्थानों को अपनाया हो या स्वतन्त्र बौद्ध परम्परा के निग्रहस्थाननिरूपण को अपनाया हो ऐसा मालूम नहीं होता। अतएव जैन परम्परा के सामने निग्रहस्थान का स्वतन्त्र भाव से निरूपण करने का ही प्रश्न रहा जिसको भट्टारक अकलङ्क ने सुलझाया[1]। उन्होंने निग्रहस्थान का लक्षण स्वतंत्र भाव से ही रचा और उसकी व्यवस्था बाँधी जिसका अक्षरशः अनुसरण उत्तरवर्ती सभी दिगम्बर श्वेताम्बर तार्किकों ने किया है। अकलङ्ककृत स्वतन्त्र लक्षण का मात्र स्वीकार कर लेने से जैन तार्किकों का कर्तव्य पूरा हो नहीं सकता था जब तक कि वे अपनी पूर्ववर्ती और अपने सामने उपस्थित ब्राह्मण और बौद्ध दोनों परम्पराओं के निग्रहस्थान के विचार का खण्डन न करें। इसी दृष्टि से अकलङ्क के अनुगामी विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र आदि ने विरोधी परम्पराओं के खण्डन का कार्य विशेष रूप से शुरू किया। इस उनके ग्रन्थों में[2]

निग्रहोऽन्यस्य वादिनः नाऽसाधनाङ्गवचनं नादोषोद्भावनं द्वयोः ॥ तथा तत्त्वार्थश्लोकेऽपि (पृ० २८१)–स्वपक्षसिद्धिपर्यन्ता शास्त्रीयार्थविचारणा। वस्त्वाश्रयत्वतो यद्वल्लौकिकार्थविचारणा।'–अष्टस० पृ० ८७।–प्रमेयक० पृ० २०३ A

१ दिगम्बर परम्परा में कुमारनन्दी आचार्य का भी एक वादन्याय ग्रन्थ रहा। 'कुमारनन्दिभट्टारकैरपि स्ववादन्याये निगदितत्वात्'–पत्रपरीक्षा पृ० ३।

२ तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८३। प्रमेयक० पृ० २०० B।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाते हैं कि पहिले तो उन्होंने न्याय परम्परा के निग्रहस्थानों का खण्डन किया और पीछे बौद्ध परम्परा के निग्रहस्थान लक्षण का। जहाँ तक देखने में आया है उससे मालूम होता है कि धर्मकीर्त्ति के लक्षण का संक्षेप में स्वतन्त्र खण्डन करनेवाले सर्वप्रथम अकलङ्क हैं और विस्तृत खण्डन करनेवाले विद्यानन्द और तदुपजीवी प्रभाचन्द्र हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने निग्रहस्थाननिरूपण के प्रसङ्ग में मुख्यतया तीन बातें पाँच सूत्रों में निबद्ध की हैं। पहिले दो सूत्र (प्र० मी० २. १. ३१, ३२) में जय और पराजय की क्रमशः व्याख्या है और तीसरे २.१.३३ में निग्रह की व्यवस्था है जो अकलङ्करचित है और जो अन्य सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर तार्किक सम्मत भी है। चौथे २. १. ३४ सूत्र में न्यायपरम्परा के निग्रहस्थान-लक्षण का खण्डन किया है, जिसकी व्याख्या प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड का अधिकांश प्रतिबिम्ब मात्र है। इसके बाद अन्तिम २. १. ३५ सूत्र में हेमचन्द्र ने धर्मकीर्ति के स्वतन्त्र निग्रहस्थान लक्षण का खण्डन किया है जो अक्षरशः प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० २०३ A) की ही नकल है।

इस तरह निग्रहस्थान की तीन परम्पराओं में से न्याय व बौद्धसम्मत दो परम्पराओं का खण्डन करके आचार्य हेमचन्द्र ने तीसरी जैन परम्परा का स्थापन किया है।

अन्त में जय-पराजय की व्यवस्था सम्बन्धी तीनों परम्पराओं के मन्तव्य का रहस्य संक्षेप में लिख देना जरूरी है। जो इस प्रकार है—ब्राह्मण परम्परा में छल, जाति आदि का प्रयोग किसी हद तक सम्मत होने के कारण छल आदि के द्वारा किसी को पराजित करने मात्र से भी छल आदि का प्रयोक्ता अपने पक्ष की सिद्धि बिना किए ही जयप्राप्त माना जाता है। अर्थात् ब्राह्मण परम्परा के अनुसार यह नियम नहीं कि जयलाभ के वास्ते पक्षसिद्धि करना अनिवार्य ही हो।

धर्मकीर्त्ति ने उक्त ब्राह्मण परम्परा के आधार पर ही कुठाराघात करके सत्यमूलक नियम बाँध दिया कि कोई छल आदि के प्रयोग से किसी को चुप करा देने मात्र से जीत नहीं सकता। क्योंकि छल आदि का प्रयोग सत्यमूलक न होने से वर्ज्य है[1]। अतएव धर्मकीर्त्ति के कथनानुसार[2] यह नियम नहीं कि किसी

---

१ 'तत्त्वरक्षणार्थं सद्भिरुपहर्त्तव्यमेव छलादि विजिगीषुभिरिति चेत् नखचपेटशस्त्रप्रहारादीपनादिभिरपीति वक्तव्यम्। तस्मान्न ज्यायायानयं तत्त्वरक्षणोपायः।—वादन्याय पृ० ७१।

२ 'सदोषवत्त्वेऽपि प्रतिवादिनोऽज्ञानात् प्रतिपादनासामर्थ्याद्वा। न हि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक का पराजय ही दूसरे का अवश्यम्भावी जय हो। ऐसा भी सम्भव है कि प्रतिवादी का पराजय माना जाए पर वादी का जय न माना जाए—उदाहरणार्थ वादी ने दुष्ट साधन का प्रयोग किया हो, इस पर प्रतिवादी ने सम्भवित दोषों का कथन न करके मिथ्यादोषों का कथन किया, तदनन्तर वादी ने प्रतिवादी के मिथ्यादोषों का उद्भावन किया—ऐसी दशा में प्रतिवादी का पराजय अवश्य माना जायगा। क्योंकि उसने अपने कर्त्तव्य रूप से यथार्थ दोषों का उद्भावन न करके मिथ्यादोषों का ही कथन किया जिसे वादी ने पकड़ लिया। इतना होने पर भी वादी का जय नहीं माना जाता क्योंकि वादी ने दुष्ट साधन का ही प्रयोग किया है। जब कि जय के वास्ते वादी का कर्तव्य है कि साधन के यथार्थ ज्ञान द्वारा निर्दोष साधन का ही प्रयोग करे। इस तरह धर्मकीर्त्ति ने जय-पराजय की ब्राह्मणसम्मत व्यवस्था में संशोधन किया। पर उन्होंने जो असाधनाङ्गवचन तथा अदोषोद्भावन द्वारा जय-पराजय की व्यवस्था की इसमें इतनी जटिलता और दुरूहता आ गई कि अनेक प्रसङ्गों में यह सरलता से निर्णय करना ही असम्भव हो गया कि असाधनाङ्गवचन तथा अदोषोद्भावन है या नहीं। इस जटिलता और दुरूहता से बचने एवं सरलता से निर्णय करने की दृष्टि से भट्टारक अकलङ्क ने धर्मकीर्त्तिकृत जय-पराजय व्यवस्था का भी संशोधन किया। अकलङ्क के संशोधन में धर्मकीर्त्तिसम्मत सत्य का तत्त्व तो निहित है ही, पर जान पड़ता है अकलङ्क की दृष्टि में इसके अलावा अहिंसा-समभाव का जैनप्रकृतिसुलभ भाव भी निहित है। अतएव अकलङ्क ने कह दिया कि[1] किसी एक पक्ष की सिद्धि ही उसका जय है और दूसरे पक्ष की असिद्धि ही उसका पराजय है। अकलङ्क का यह सुनिश्चित मत है कि किसी एक पक्ष की सिद्धि दूसरे पक्ष की असिद्धि के बिना हो ही नहीं सकती। अतएव अकलङ्क के मतानुसार यह फलित हुआ कि जहाँ एक की सिद्धि होगी वहाँ दूसरे की असिद्धि अनिवार्य है, और जिस पक्ष की सिद्धि हो उसी की

दुष्टसाधनाभिधानेऽपि वादिनः प्रतिवादिनोऽप्रतिपादिते दोषे पराजयव्यवस्थापना युक्ता। तयोरेव परस्परसामर्थ्योपघातापेक्षया जयपराजयव्यवस्थापनात्। केवलं हेत्वाभासाद् भूतप्रतिपत्तेरभावादप्रतिपादकस्य जयोऽपि नास्त्येव।'-वादन्याय पृ० ७०।

१ 'निराकृतावस्थापितविपक्षस्वपक्षयोरेव जयेतरव्यवस्था नान्यथा। तदुक्तम्—स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः। नासाधनाङ्गवचनं नाऽदोषोद्भावनं द्वयोः॥'—अष्टश० अष्टस० पृ० ८७। 'तत्रेह तात्त्विके वादेऽकलङ्कैः कथितो जयः। स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः।'—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जय। अतएव सिद्धि और असिद्धि अथवा दूसरे शब्दों में जय और पराजय समव्याप्तिक हैं। कोई पराजय जयशून्य नहीं और कोई जय पराजयशून्य नहीं। धर्मकीर्तिकृत व्यवस्था में अकलंक की सूक्ष्म अहिंसा प्रकृति ने एक त्रुटि देख ली जान पड़ती है। वह यह कि पूर्वोक्त उदाहरण में कर्त्तव्य पालन न करने मात्र से अगर प्रतिवादी को पराजित समझा जाए तो दुष्टसाधन के प्रयोग में सम्यक् साधन के प्रयोग रूप कर्त्तव्य का पालन न होने से वादी भी पराजित क्यों न समझा जाए? अगर धर्मकीर्त्ति वादी को पराजित नहीं मानते तो फिर उन्हें प्रतिवादी को भी पराजित नहीं मानना चाहिए। इस तरह अकलङ्क ने पूर्वोक्त उदाहरण में केवल प्रतिवादी को पराजित मान लेने की व्यवस्था को एकदेशीय एवं अन्यायमूलक मानकर पूर्ण समभाव मूलक सीधा मार्ग बाँध दिया कि अपने पक्ष की सिद्धि करना ही जय है। और ऐसी सिद्धि में दूसरे पक्ष का निराकरण अवश्य गर्भित है। अकलङ्कोपज्ञ यह जय-पराजय व्यवस्था का मार्ग अन्तिम है, क्योंकि इसके ऊपर किसी बौद्धाचार्य ने या ब्राह्मण विद्वानों ने आपत्ति नहीं उठाई। जैन परम्परा में जय-पराजय व्यवस्था का यह एक ही मार्ग प्रचलित है, जिसका स्वीकार सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर तार्किकों ने किया है और जिसके समर्थन में विद्यानन्द (तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८१), प्रभाचन्द्र (प्रमेयक० पृ० १६४), वादिराज (न्यायवि० टी० पृ० ५२७ B) आदि ने बड़े विस्तार से पूर्वकालीन और समकालीन मतान्तरों का निरास भी किया है। आचार्य हेमचन्द्र भी इस विषय में भट्टारक अकलङ्क के ही अनुगामी हैं।

सूत्र ३४ की वृत्ति में आचार्य हेमचन्द्र ने न्यायदर्शनानुसारी निग्रहस्थानों का पूर्वपक्षरूप से जो वर्णन किया है वह अक्षरशः जयन्त की न्यायकलिका (पृ० २१–२७) के अनुसार है और उन्हीं निग्रहस्थानों का जो खण्डन किया है वह अक्षरशः प्रमेयकमलमार्त्तण्डानुसारी (पृ० २०० B.-२०३ A) है। इसी तरह धर्मकीर्तिसम्मत (वादन्याय) निग्रहस्थानों का वर्णन और उसका खण्डन भी अक्षरशः प्रमेयकमलमार्त्तण्ड के अनुसार है। यद्यपि न्यायसम्मत निग्रहस्थानों का निर्देश तथा खण्डन तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (पृ० २८३ से) में भी है तथा धर्मकीर्त्तिसम्मत निग्रहस्थानों का वर्णन तथा खंडन वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका (७०३ से) में, जयन्त ने न्यायमंजरी (पृ० ६४६) और विद्यानंद ने अष्टसहस्री (पृ० ८१) में किया है, पर हेमचन्द्रीय वर्णन और खंडन प्रमेयकमल-मार्त्तण्ड से ही शब्दशः मिलता है।

ई० १६३६] [प्रमाण मीमांसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org